॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

वर्ष तीसरा
खास अंक

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

प्रथम श्रावण
२४७३

— अनेकान्त का प्रयोजन —

''हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य व्यवहार के अनेक विधि-निषेध के कर्तृत्व की महिमा में कोई कल्याण नहीं है। यही कहीं ऐकान्तिक दृष्टि से लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है -ऐसा विचार छोड़कर उन वचनों से जो भी अन्तर्मुख वृत्ति होने की प्रेरणा मिले, उसे करने का विचार रखना, सो सुविचारदृष्टि है।...बाह्य क्रिया के अन्तर्मुखदृष्टिहीन विधि-निषेध में कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। ....अनेकान्तिक मार्ग में सम्यक् एकान्त-निज पर की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नहीं है; यह जानकर ही लिखा है। यह मात्र अनुकम्पा बुद्धि से, निराग्रह से, निष्कपट भाव से, निर्दम्भता से और हित दृष्टि से लिखा है; यदि इस प्रकार विचार करोगे तो यह यथार्थ दृष्टिगोचर होगा।...''

(—श्रीमद् राजचंद्र, गु. पृष्ठ ३४६-३४७)

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र—

आत्मधर्म

: खास अंक :

प्रथम श्रावण २४७३

जीव और कर्म दोनों स्वतंत्र है

श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार (अर्थात् अध्यात्म तरंगिणी) के नववां अधिकार की ४९ वीं गाथा में (पृ. १८६) कहा है कि—

न कर्म हंति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान्।
वध्य घातक भावोऽस्ति नान्योन्यं जीव कर्मणोः॥४९॥

अर्थ—न तो कर्म जीव के गुणों को नष्ट करता है और न जीव ही कर्म के गुणों को नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्म का आपस में वध्य-घातक संबंध नहीं।

भावार्थ—'वध्य-घातक भाव' नामक विरोध में वध्य का अर्थ मरनेवाला और घात का अर्थ मारनेवाला है, यह विरोध अहिनकुल, अग्नि-जल आदि में देखने में आता है अर्थात् नोला सर्प को मार देता है, इसलिये सर्प वध्य और नोला घातक कहा जाता है तथा जल, अग्नि को बुझा देता है; इसलिये अग्नि वध्य और जल घातक होता है; यहाँ पर जीव और कर्मों में यह विरोध देखने में नहीं आता क्योंकि यदि कर्म, जीव के गुणों को नष्ट करता अथवा जीव, कर्म के गुणों को नष्ट करता, तब तो जीव और कर्म में वध्य-घातक भाव नामक विरोध होता। सो तो है नहीं, इसलिये जीव और कर्म में वध्य-घातक भाव नाम के विरोध नहीं हो सकता।

श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र

सम्यग्दर्शन की परम महिमा है। दृष्टि की महिमा बताने के लिये सम्यग्दृष्टि के भोग को निर्जरा का कारण कहा है। समयसार, गाथा १९३ में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिन इंद्रियों के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्य का उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है और उसी में मोक्ष अधिकार में छट्ठे गुणस्थान में मुनि के जो प्रतिक्रमणादि की शुभवृत्ति उद्भूत होती है, उसे विष कुंभ कहा है। सम्यग्दृष्टि की अशुभभावना को निर्जरा का कारण और मुनि की शुभभावना को विष कहा है-इसका समन्वय क्यों कर हो सकता है।

जहाँ सम्यग्दृष्टि के भोग की निर्जरा का कारण कहा है, वहाँ यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि भोग अच्छे हैं किंतु वहाँ दृष्टि की महिमा बताई है। अबंधस्वभाव की दृष्टि का बल, बंध को स्वीकार नहीं करता, उसकी महिमा बताई गई है अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा से वह बात कही है। जहाँ मुनि की व्रतादि की शुभभावना को विष कहा है, वहाँ चारित्र की अपेक्षा से कथन है। हे मुनि! तूने शुद्धात्म चारित्र अंगीकार किया है; परम केवलज्ञान की उत्कृष्ट साधकदशा प्राप्त की है और अब जो व्रतादि की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह तेरे शुद्धात्म चारित्र को और केवलज्ञान को रोकनेवाली है; इसलिये वह विष है।

सम्यग्दृष्टि के स्वभावदृष्टि का जो बल है, वह निर्जरा का कारण है और वह दृष्टि में बंध को अपना स्वरूप नहीं मानता, स्वयं राग का कर्ता नहीं होता, इसलिये उसे अबंध कहा है, परंतु चारित्र की अपेक्षा से तो उसके बंधन है। यदि भोग से निर्जरा होती हो तो अधिक भोग से अधिक निर्जरा होनी चाहिये किंतु ऐसा तो नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के जो रागवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे दृष्टि की अपेक्षा से वह अपनी नहीं मानता। ज्ञान की अपेक्षा से वह यह जानता है कि 'अपने पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग होता है' और चारित्र की अपेक्षा से उस राग को विष मानता है, दुःख-दुःख मालूम होता है। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान और चारित्र में से जब दर्शन की मुख्यता से बात चल रही हो, तब सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा जाता है। स्वभावदृष्टि के बल से प्रति समय उसकी पर्याय निर्मल होती जाती है अर्थात् वह प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। जो राग होता है, उसे जानता तो है किन्तु स्वभाव में उसे अस्तिरूप नहीं मानता और इस मान्यता के बल पर ही राग का सर्वथा अभाव करता है। इसलिये सच्ची दृष्टि की अपार महिमा है।

सच्ची श्रद्धा होने पर भी जो राग होता है, वह राग, चारित्र को हानि पहुँचाता है परंतु सच्ची श्रद्धा को हानि नहीं करता, इसलिये श्रद्धा की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है, वह बंध का कारण नहीं, किंतु निर्जरा का ही कारण है—ऐसा कहा जाता है। किंतु श्रद्धा के साथ चारित्र की अपेक्षा को भूल नहीं जाना चाहिये।

चारित्र की अपेक्षा से छठे गुणस्थानवर्ती मुनि की शुभवृत्ति को भी विष कहा है, तब फिर सम्यग्दृष्टि के भोग के अशुभभाव की तो बात ही क्या है? अहो! परम शुद्धस्वभाव के भान में मुनि की शुभवृत्ति को भी जो विष मानता है, वह अशुभभाव को क्यों कर भला मान सकता है? जो स्वभाव के भान में शुभवृत्ति को भी विष मानता है, वह जीव स्वभाव के बल से शुभवृत्ति को तोड़कर पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा, परंतु वह अशुभ को तो कदापि आदरणीय नहीं मानेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा की अपेक्षा से तो अपने को संपूर्ण परमात्मा ही मानता है, तथापि चारित्र की अपेक्षा से अपूर्ण पर्याय होने से तृणतुल्य मानता है, अर्थात् वह यह जानकर कि अभी अनंत अपूर्णता विद्यमान है; स्वभाव की स्थिरता के प्रयत्न से उसे टालना चाहता है। ज्ञान की अपेक्षा से जितना राग है, उसका सम्यग्दृष्टि ज्ञाता है किंतु राग को निर्जरा अथवा मोक्ष का कारण नहीं मानता और ज्यों-ज्यों पर्याय की शुद्धता बढ़ाने पर राग दूर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका ज्ञान करता है। इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र इन तीनों की अपेक्षा से इस स्वरूप को समझना चाहिये।

ग्राहकों से निवेदन

आपसे हमारी यह विनम्र प्रार्थना है कि कार्यालय के साथ कोई भी प्रकार का पत्र व्यवहार, मनीआर्डर या शिकायत करने के वक्त पर आपका ग्राहक नंबर अवश्य लिखें। बिना ग्राहक नंबर के पत्र व्यवहार से हमें बहुत ही परेशानी होती हैं और जवाब देने में भी बहुत ही विलंब होता है। पत्र व्यवहार में आपका अक्षर भी साफ लिखने की कृपा करें।

— रवाणी

अनन्त पुरुषार्थ :

स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं किन्तु सम्यक् पुरुषार्थवाद है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२-३२३ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन

['वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, तथापि पुरुषार्थ के बिना शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती' इसी सिद्धान्त पर मुख्यतया यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्नलिखित विषयों के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है:—

१- पुरुषार्थ, २- सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना, ३- सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा, ४- द्रव्य दृष्टि, ५- जड़ और चेतन पदार्थों की क्रमबद्ध पर्याय, ६- उपादान निमित्त, ७- द्रव्य गुण पर्याय, ८-सम्यग्दर्शन, ९- कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, १०- साधक दशा, ११- कर्म में उदीरणा इत्यादि के प्रकार १२- मुक्ति की नि:सन्देह प्रतिध्वनि, १३- सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, १४- अनेकान्त और एकान्त, १५- पाँच समवाय, १६- अस्ति-नास्ति, १७-निमित्त-नैमित्तिक संबंध, १८- निश्चय व्यवहार, १९- आत्मज्ञ और सर्वज्ञ, २०- निमित्त की उपस्थिति होने पर भी निमित्त के बिना कार्य होता है। इसमें अनेक पहलुओं से- प्रकारान्तर से बारंबार स्वतंत्र पुरुषार्थ को सिद्ध किया है, और इस प्रकार पुरुषार्थ स्वभावी आत्मा की पहचान कराई है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतंत्र सत्य पुरुषार्थ की पहचान करके उस और उन्मुख हों, यही भावना है। —सम्पादक]

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने तीन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिंतवन करते हैं, तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते हैं। यह विशेष ज्ञातव्य होने से यहाँ वर्णित किया जा रहा है। वे मूल गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

जं जस्स जम्मिदेसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणंवा॥३२१॥
तं तस्स तम्मिदेसे जेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदोवा॥३२२॥

अर्थ — जिस जीव को, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से, जन्म-मरण, सुख-दु:ख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं, उसीप्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिसप्रकार जाना है, उसीप्रकार उस जीव के उसी देश में, उसी काल में, और उसी

विधि से नियमपूर्वक सब होता है, उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थङ्करदेव कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ — सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है; उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार सम्यक्दृष्टि विचार करता है। **(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृष्ठ १२५)**

इन गाथा में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है ? सम्यग्दृष्टि जीव, वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिंतवन करता है – यह बात यहाँ बताई है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना दु:ख में धीरज दिलाने के लिए अथवा झूठा आश्वासन देने के लिये नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है, उसी प्रकार स्वयं चिंतवन करता है; वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, यह कोई कल्पना नहीं है। यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होनेवाली अवस्था सर्वज्ञ भगवान ने देखी है, उस काल में वही अवस्था होती है, दूसरी नहीं होती।' इस में एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है, किन्तु इसी में सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

आत्मा सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है, अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप है। उस सामान्य और उस ज्ञान में से समय-समय पर जो पर्याय होती है वह विशेष है। सामान्य स्वयं ध्रुव रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है; उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय-समय पर विशेष में शुद्धता होती है, और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि-देहादि है, वह मैं हूँ' तो विशेष में अशुद्धता होती है। इस प्रकार यदि स्वरूप की रुचि करे तो शुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; और यदि विकार की-पर की रुचि है, उसे अशुद्धपर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जीव जिस ओर की रुचि करता है, उस तरफ की क्रमबद्ध दशा होती है। जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है, उसे द्रव्य की रुचि होती है और जिसे द्रव्य की रुचि होती है, उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध ही होती है; अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय ही होती है, उस में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में तो द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है।

प्रश्न — जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि सभी

में एक के बाद दूसरी क्रमबद्ध अवस्था श्री सर्वज्ञदेव ने देखी है, उसी के अनुसार अनादि-अनन्त समयबद्ध होती हैं, तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही ?

उत्तर — जब आत्मा की ओर का पुरुषार्थ किया जाता है, तब ही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया कि अहो! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध स्वयं हुआ करती है, मैं पर में क्या कर सकता हूँ ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि मात्र जैसा होता है, मैं वैसा ही जानता हूँ; ऐसे निर्णय में पर की अवस्था में अच्छा-बुरा मानना नहीं रह जाता किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है, अर्थात् विपरीत मान्यता और अनन्तानुबंधी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त परद्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्वभाव दूर होकर अपने ज्ञातास्वभाव की अनन्त दृढ़ता हो गई। ऐसा अपनी ओर का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में हुआ है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ, किन्तु मैं किसी का कुछ नहीं करता—ऐसी मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व का नाश करके, पर से पुनरावृत्त होकर जीव अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, समस्त पदार्थों की समय-समय पर जो अवस्था क्रमबद्ध होती है, वही होता है, ऐसे निर्णय में सम्यग्दर्शन भी आ जाता है। इसमें पुरुषार्थ किस प्रकार आया, सो बतलाते हैं।

१— पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का कुछ नहीं करता, यह निश्चय किया कि सभी परद्रव्यों का अभिमान दूर हो जाता है।

२— विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा-बुरा मानकर जो अनन्तानुबंधी राग-द्वेष करता था, वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने पर परद्रव्य के लक्ष से हटकर, स्वयं राग-द्वेषरहित अपने ज्ञातास्वभाव में आ गया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रुक गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो तीनों काल की क्रमबद्ध अवस्थाओं का पिंडरूप द्रव्य हूँ, वस्तु तो ज्ञाता ही है; एक अवस्था जितनी वस्तु नहीं है, अवस्था में जो राग-द्वेष होता है, वह परवस्तु के कारण नहीं किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है, उस दुर्बलता को भी देखना नहीं रहा, किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञातास्वरूप में ही देखना रहा, उस स्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्प काल में टूट जायगी।

क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में से आती है, परपदार्थ में से नहीं आती तथा एक पर्याय में से दूसरी

पर्याय प्रगट नहीं होती; इसलिए अपनी पर्याय के लिए परद्रव्य की ओर अथवा पर्याय को नहीं देखना रहा किन्तु मात्र ज्ञातास्वरूप को ही देखना रहा। जिसकी ऐसी दशा हो जाती है, समझना चाहिये कि उसने सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर लिया है।

प्रश्न — सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो, तभी तो आत्मा की रुचि होती है न ?

उत्तर — यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञ भगवान सब कुछ जानते हैं ? जिसने सर्वज्ञ भगवान की ज्ञानशक्ति को अपनी पर्याय में निश्चित किया है, उसकी पर्याय संसार से और राग से हटकर, अपने स्वभाव की ओर लग गयी है; तभी तो वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभाव की ओर हो गई है, उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो ! केवली भगवान तीन काल और तीन लोक के ज्ञाता हैं; वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते', उसने अपने आत्मा को ज्ञाता स्वभाव के रूप में मान लिया और उसकी तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्त्तत्वबुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभाव का अनन्त प्रसाद क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं है किन्तु सम्यक्त पुरुषार्थवाद है।

प्रत्येक द्रव्यों की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है, उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है; किन्तु मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और न मेरी अवस्था को कोई अन्य करता है। किसी निमित्त कारण से राग-द्वेष नहीं होते। इस प्रकार निमित्त और राग-द्वेष को जाननेवाली मात्र ज्ञान की अवस्था रह जाती है, वह अवस्था ज्ञातास्वरूप को जानती है, राग को जानती है और सभी पर को भी जानती है, मात्र जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। जो राग होता है, वह ज्ञान का ज्ञेय है, किन्तु राग उस ज्ञान का स्वरूप नहीं है—ऐसी श्रद्धा में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है। यह समझने के लिए ही आचार्यदेव ने यहाँ पर दो गाथायें देकर वस्तुस्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नहीं हुआ, इससे पूर्व अपने केवलज्ञान की भावना को करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञता के होने पर वस्तु स्वरूप कैसा ज्ञात होगा इसका चिंतवन करता है।

आत्मा की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है, तब उस अवस्था के लिए अनुकूल निमित्तरूप परवस्तु स्वयं उपस्थित होती ही है। आत्मा की क्रमबद्धपर्याय की जो योग्यता हो, उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कहीं अटक जायगी, सो बात नहीं है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा तो यह कैसे

होगा। उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले के यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तु में अपने क्रम से जब अवस्था होती है, तब निमित्त होता ही है, ऐसा नियम है।

धूप, परमाणु की ही प्रकाशमान दशा है और छाया भी परमाणुओं की काली दशा है। परमाणु में जिस समय काली अवस्था होनी होती है, उसी समय काली अवस्था उसके द्वारा स्वयं होती है; और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती ही है। परमाणु की काली दशा के क्रम को बदलने के लिए कोई समर्थ नहीं है। धूप के बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाई पड़ती है, वह हाथ के कारण नहीं पड़ती, किन्तु वहाँ के परमाणु की ही उस समय क्रमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओं में दोपहर को ३ बजे काली अवस्था होनी है — ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो उन परमाणुओं की ३ बजे होनेवाली दशा अटक जायेगी ? नहीं ! ऐसा बनता ही नहीं। परमाणुओं में ठीक ३ बजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त स्वयं उपस्थित होते ही हैं; सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि ३ बजे अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलम्ब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा; किन्तु यह असंभव है। जिससमय वस्तु की जो क्रमबद्ध अवस्था होनी होती है, उस समय निमित्त उपस्थित न हो, यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु पर में वह कुछ करता नहीं है।

यहाँ पर पुद्गल की पर्याय का दृष्टांत दिया गया है, इसी प्रकार अब जीव का दृष्टांत देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायगा, ऐसी मान्यता बिल्कुल असत्य पराधीन दृष्टि की है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो – ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो वहाँ निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। जिस समय उपादान कार्यरूप में परिणमित होता है, उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित होती है, निमित्त बाद में आता हो सो बात नहीं है। जिस समय उपादान का कार्य होता है, उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है; ऐसा होने पर भी निमित्त-उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता, असर प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो; और निमित्त से कार्य हो-ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्य में उस की अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था जब होनी होती है, तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। ऐसा जो स्वाधीन दृष्टि का विषय है, उसे सम्यग्दृष्टि ही

जानता है, मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति नहीं होती इसलिये उनकी दृष्टि निमित्त पर जाती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिये वह वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में शंका करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया है ? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं है; ज्ञानी को वस्तुस्वरूप में शंका नहीं होती। वह जानता है कि जिस काल में, जिस वस्तु की, जो पर्याय होती है, वह उसकी क्रमबद्ध अवस्था है। मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ; इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्व स्वभाव की प्रतीति है, इसलिये सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिंतवन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि जिस समय जो जैसा होता है, उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूँ, अपने ज्ञायकस्वरूप की भावना करते-करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा।

ऐसी भावना केवली भगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है – ऐसे चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवाले ज्ञानी की धर्मभावना का यह विचार है; इसमें यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है। यह कोई मिथ्या कल्पना या दु:ख के आश्वासन के लिए नहीं है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आपत्ति का कारण नहीं मानते, किन्तु ज्ञान की अपूर्णदशा के कारण अपनी दुर्बलता से उसे अल्प रागद्वेष होता है, उस समय संपूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है, इसका वे इस तरह चिंतवन करते हैं। जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञान में ज्ञात हुई है, उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं, देखिये, इसमें सम्यग्दृष्टि की भावना की नि:शंकता का कितना बल है ! 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ नहीं है' – यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निशंकता ही हैं। सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता है किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ, इस प्रकार उसे अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है।

जिस क्षेत्र में, जिस शरीर के जीवन या मरण, सुख या दु:ख का संयोग इत्यादि जिस विधि से होना है, उसमें किंचित्मात्र भी अंतर नहीं आ सकता। साँप का काटना, पानी में डूबना, अग्नि में जलना इत्यादि जो संयोग होना है, उसे बदलने को कोई भी तीन काल और तीन लोक में समर्थ नहीं है। स्मरण रहे कि इस में महानतम सिद्धांत निहित है जो कि मात्र पुरुषार्थ को सिद्ध करता है। इसमें

स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने बारह भावनाओं का स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्त-मुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वस्तुस्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है। स्वामी कार्तिकेय के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचंद्र ने भी कहा है कि—'नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेय को।' इन महा सन्त-मुनि के कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।

'जो जिस जीव के' अर्थात् सभी जीवों के लिए यही नियम है कि जिस जीव को, जिस काल में, जीवन-मरण इत्यादि का कोई भी संयोग, सुख-दु:ख का निमित्त आनेवाला है, उसमें परिवर्तन करने के लिए देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं है। यह सम्यग्दृष्टि जीव का यथार्थ ज्ञान की पूर्णता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञान में लिया जाता है किन्तु किसी संयोग के भय से आड़ लेने के लिये यह विचार नहीं है। एक पर्याय में तीन काल और तीन लोक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाय, सम्यग्दृष्टि इसका विचार करता है।

यहाँ सुख-दु:ख के संयोग की बात की गई है। संयोग के समय भीतर स्वयं जो शुभ या अशुभभाव होता है, वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग-द्वेष होता है, वहाँ सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व-लक्ष से जानता है, वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से निज को राग-द्वेष होता है; किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही संयोग वियोग क्रमश: होता है। मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि पर संयोग के कारण से निज को राग-द्वेष होता है, इसलिये वह संयोग को बदलना चाहता है, उसे वीतरागशासन के प्रति श्रद्धा नहीं है। उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं है, क्योंकि जो कुछ होता है, वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है, फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्यों कर हुआ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है, उसी के अनुसार सबकुछ होता है, और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में राग-द्वेष होता है; और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध में थोड़ा सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतराग शासन के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न-जल मिलना होता है, उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही रज-कण मिलेंगे, उस में एक समयमात्र अथवा एक परमाणुमात्र का परिवर्तन

करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। जीवन-मरण, सुख-दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होनेवाला है, वैसा ही होगा, उसमें लाख प्रकार की सावधानी रखने पर भी किंचित्मात्र परिवर्तन नहीं हो सकता; उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलने में समर्थ नहीं हैं। इस में नियतवाद नहीं है किन्तु मात्र ज्ञायकपन का पुरुषार्थवाद ही है।

'जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही होता है, इसमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता'-ऐसी दृढ़ प्रतीति को नियतवाद नहीं कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। पर में कुछ नहीं देखना है, किन्तु निज में ही देखना है। जिसकी दृष्टि मात्र परपदार्थ पर ही है, उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है; किन्तु यदि स्ववस्तु की ओर से देखे तो इसमें मात्र स्वाधीन तत्त्व दृष्टि का पुरुषार्थ ही भरा हुआ है। वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है, जहाँ ऐसा निश्चय किया कि जीव समस्त परद्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिये उसे स्व-द्रव्य में ही देखना होता है और उसी में सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं। इस क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का अवलंबन करनेवाले हैं; यह भाव तीन काल और तीन लोक में बदलनेवाले नहीं हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाय तो यह भाव बदले, जो कि सर्वथा अशक्य है। जगत, जगत ही है; यदि जगत के जीवों के यह बात नहीं बैठती तो इससे क्या ? जो वस्तुस्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है, वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा ही होता है, इसमें जो शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और संयोग में, मैं परिवर्तन कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाला, सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका करता है, और इसलिये वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ़ है।

अहो ! इस एक सत्य को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है ! चाहे कम खाने का भाव करे या अधिक खाने का भाव करे किन्तु जितने और जो परमाणु आना हैं, उतने और वे ही परमाणु आयेंगे, उन में से एक भी परमाणु को बदलने में कोई जीव समर्थ नहीं है। बस, ऐसा जानकर शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति हो जाती है। इसे मानने में अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। पर का कर्तृत्व अन्तरंग से मानता हो, पर में सुखबुद्धि हो, और कहे कि जो होना है सो होगा - यह तो शुष्कता है; यह बात ऐसी नहीं है। अनन्त परद्रव्यों से पृथक् होकर, जब जीव मात्र स्वभाव में संतोष मानता है, तब यह

बात यथार्थ बैठती है, इसकी स्वीकृति में तो सभी परपदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान में ही लगता है, अर्थात् मात्र वीतरागभाव का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र, तीन काल और तीन लोक में एक परमाणु को बदलने में समर्थ नहीं है। जिसके ऐसी प्रतीति है, वह ज्ञान की ओर उन्मुख हुआ है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है, वह क्रमशः ज्ञान की दृढ़ता के बल से राग का नाश करके अल्प काल में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सबकुछ क्रमबद्ध ही होता है; इसलिये वह अब ज्ञाताभाव से जानता ही है। ज्ञान की एकाग्रता की कचाई के कारण वर्तमान में कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है, परन्तु 'मैं तो ज्ञान ही हूँ' - ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; इसलिए 'मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, परपदार्थों की क्रिया स्वतंत्र होती है, उसका मैं कर्ता नहीं हूँ, किन्तु ज्ञाता ही हूँ,' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एकमात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

जो कुछ वस्तु में होता है, वह सब केवली जानते हैं और जो कुछ केवली ने जाना है, वह सब वस्तु में होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल-संबंध है। यदि ज्ञेय-ज्ञायक का मेल न माने और कर्ता-कर्म का किंचित्मात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक हैं, उनको किसी भी पदार्थ के प्रति कर्तृत्व या राग-द्वेषभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ; मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझमें कुछ परिवर्तन नहीं होता, यदि अस्थिरता से राग हो जाय तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तु की क्रमबद्ध दशा होती है, वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता हुआ।

हे भाई! यह नियतवाद नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान का समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है तो मैं उसके लिये क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिए समर्थ नहीं हूँ। मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभाव में से प्रगट होती है, इसलिए मैं अपने द्रव्यस्वभाव में एकाग्र रहकर सबका ज्ञाता ही हूँ - ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न — जब कि सभी क्रमबद्ध हैं और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा?

उत्तर — सब कुछ क्रमबद्ध है, इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट हैं, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सब कुछ मात्र जानते ही हैं किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया ? नहीं, नहीं; भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है, पर में नहीं। पुरुषार्थ, जीवद्रव्य की पर्याय है; इसलिए उसका कार्य जीव की ही पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा, आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है, वे केवलज्ञानी हैं; उनके ज्ञान में सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है। ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी निज दृष्टि से देखनेवाला ही रहा; ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादिक, सब कुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ज्ञानी द्रव्यदृष्टि के बल से ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप का चिंतवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव, पर का कर्त्तत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यतावाला जीव, ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व मे परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है, वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता,' इस प्रकार जो मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है ? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से ? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया, उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो, यह हो ही कैसे सकता है ? स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा होता है' तो वह मात्र बात करने के लिए कहा है–अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है ? पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक यह कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का निर्णयवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य कार्य करता है, तथापि उससे इन्कार

करके तू कहता है कि क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहाँ रहा ? सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नहीं है, और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव की शंका न रहे। यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये – यह हो ही नहीं सकता।

अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त पदार्थों से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का जिस ज्ञान ने निर्णय किया, उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के ? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है, उसने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की, किन्तु राग से पृथक् करके अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है। जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है, वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी, तब वह अनंत भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनंत भव की शंका दूर हो गई है तथा एकाध भव में मोक्ष के लिए ज्ञान निःशंक हो गया है। उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो, वैसा ही होता है', ऐसी स्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नहीं होती, वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय भी अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्धपर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य में से ही आती है, द्रव्य में राग-द्वेष नहीं है, कोई परद्रव्य मुझे राग-द्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प राग-द्वेष है, वह मेरी निबलाई का कारण है; वह निबलाई भी मेरे द्रव्य में नहीं है। ऐसे होने से उस जीव को पर में न देखकर, अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्रगट करेगा। बस, इसी का नाम क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा है, इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है और यही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञ दशा है।

द्रव्य में समय-समय जो विशेष अवस्था होती है, वह विशेष, सामान्य में से ही आता है, सामान्य में से विशेष प्रगट होता है; इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। जैन के अतिरिक्त सामान्य-विशेष की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते। सामान्य में से विशेष होता है - इतना सिद्धांत निश्चित करने पर वह परिणमन निज की ओर ढ़ल जाता है। पर से मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त से भी नहीं होती, विकल्प से भी नहीं होती और पर्याय में से भी मेरी पर्याय नहीं होती। इस प्रकार सबसे लक्ष हटाकर, जो जीव मात्र द्रव्य की ओर झुका है, उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गई है कि सामान्य में से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है, वैसा ही होता है - यह निश्चय करनेवाले का वीर्य पर से हटकर, निज में स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यों का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर में से आई है और न विकल्प में से भी आई है। किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य में से प्रगट हुई है अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है; अतः वह कहीं भी न रुककर, अल्प काल में ही संपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है - ऐसा जो मानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को, तथा द्रव्य-पर्याय को नहीं मानता।

१— अपना आत्मा पर से भिन्न है, तथापि वह पर का कुछ करता है; इस प्रकार मानना, सो आत्मा को पररूप मानना है अथवा आत्मा को नहीं मानना ही है।

२— वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुये अनुसार होती है, उसकी जगह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

३— वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है, यह बात कहाँ रही ? निमित्त, पर का कुछ भी नहीं करता, तथापि जो यह मानता है कि मेरे निमित्त से पर में कोई परिवर्तन होता है, वह सच्चे न्याय को नहीं मानता।

४— द्रव्य की पर्याय द्रव्य में से ही आती है, उसकी जगह जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय का करता हूँ,) वह द्रव्य-

पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता। इस प्रकार एक विपरीत मान्यता में अनन्त असत् का सेवन आ जाता है।

वस्तु में से क्रमबद्धपर्याय आती है, वह दूसरा कुछ नहीं करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी कार्य नहीं होता। निमित्त सहायता करता हो, सो बात नहीं है और न ऐसा ही होता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो। जैसे ज्ञान समस्त वस्तु को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है, इसी प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है, वह उपादान के लिए कोई असर, सहायता अथवा प्रेरणा नहीं करता और प्रभाव भी नहीं डालता।

जिस समय निजलक्ष के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है, उस समय सच्चे देव, गुरु, शास्त्र निमित्तरूप अवश्य होते हैं।

प्रश्न — जीव की सम्यग्दर्शन के प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न मिलें तो क्या सम्यग्दर्शन नहीं होता?

उत्तर — यह हो ही नहीं सकता कि जीव की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न हों। जब उपादानकारण तैयार होता है, तब निमित्तकारण स्वयमेव आ जाता है, किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं होता। उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है। दोनों स्वतंत्ररूप से अपने-अपने कार्य के कर्ता हैं।

अहो! वस्तु कितनी स्वतंत्र है! समस्त वस्तुओं में क्रमवर्तित्व चल ही रहा है, एक के बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो; जो पर्याय होनी है, वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञात के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर का कर्तृत्व का अभिमान करता है, उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है और जो ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञान पर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

वस्तु की अनादि-अनन्त समय की पर्याय में से एक भी पर्याय का क्रम नहीं बदलता। अनादि-अनन्त काल के जितने समय है, उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्याय हैं; पहले समय की पहली पर्याय, दूसरे समय की दूसरी पर्याय और तीसरे समय की तीसरी पर्याय के क्रम से जितने समय हैं, उतनी ही पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जिसने ऐसा स्वीकार किया उसकी दृष्टि एक-एक पर्याय पर से हटकर अभेद द्रव्य पर हो गई और वह पर से उदास हो गया। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय कर दूँ तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि-अनन्त काल की पर्यायों

में परिवर्तन करना मानता है, अर्थात् वह वस्तु स्वरूप को विपरीतरूप में मानता है, और इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि-अनन्त हैं। अनादि-अनन्त काल के जितने समय हैं, उतनी ही उस-उस समय की पर्यायें वस्तु में से क्रमबद्ध प्रगट होती हैं। जिस समय की जो पर्याय है, उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी-सीधी नहीं होती तथा आगे-पीछे भी नहीं होती। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में केवलज्ञान खड़ा हो जाता है। यह तो दृष्टि के चिरस्थाई प्याले हैं, उन्हें पचाने के लिए श्रद्धा-ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। जब अनादि-अनन्त अखंड द्रव्य को प्रतीति में लेते हैं, तब क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का मूल तो वही है। जो जीव, क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है, वह अनादि-अनन्त पर्यायों का ज्ञायक और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीतिवाला हो जाता है। मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है; इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने से साधक पर्याय में अपूर्णता रहने पर भी उसे अब द्रव्य की ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्य के बल पर पूर्णता हो जायगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है, वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान में लिए बिना पर्याय में शान्ति कहाँ से आयगी ? यदि सुख-दशा चाहिये हो तो यह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा; जिसमें से सुख-दशा प्रगट हो सके।

अहो ! मेरी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है, इस प्रकार जिसने निश्चय किया, उसे अपने में समभाव-ज्ञाताभाव हो जाता है, उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती। किन्तु जो-जो पर्यायें होती हैं, उनका ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है, उसे केवलज्ञान होने में विलम्ब कैसा ? जिसे स्वभाव में समभावी ज्ञान नहीं है अर्थात् जिसे अपने द्रव्य की क्रमबद्ध दशा की प्रतीति नहीं है, उस जीव की रुचि पर में जाती है और उसके विषमभाव से क्रमबद्धरूप में विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व भाव से क्रमबद्धरूप में विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है, वह विषमभाव से है (विकारी है) और निज में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है, वह समभाव से क्रमबद्ध विशेष शुद्ध होती जाती है।

इसमें तो सब कुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्धपर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि परदृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। पर के साथ संबंध न रहने

पर भी दृष्टि किस ओर जाती है, इस पर क्रमबद्धपर्याय का आधार है। कोई जीव शुभभाव करने से परवस्तु (देव, शास्त्र, गुरु अथवा मंदिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता और अशुभभाव करने से कोई रुपया-पैसा इत्यादि परवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो परवस्तु, जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है, वही वस्तु उस काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है, वह आत्मभाव के भाव के कारण नहीं आती। समस्त वस्तु की पर्यायें अपने क्रमबद्ध नियमानुसार ही होती हैं, उनमें कोई फर्क नहीं आता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और केवलज्ञानस्वभाव का अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर जीव अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर अकेला ज्ञाता हो जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा में सभी पर्याय क्रमबद्ध होती है, उसी प्रकार जड़ में भी जड़ की सभी अवस्था क्रमबद्ध होती है। कर्म की जो-जो अवस्था होती है, उसे आत्मा नहीं करता, किन्तु वह परमाणु की क्रमबद्धपर्याय है। कर्म के परमाणुओं में उदय, उदीरणा इत्यादि जो दश अवस्थायें (करण) हैं, वे भी परमाणु की क्रमबद्धदशा है। आत्मा के शुभपरिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा बदल नहीं गई, किन्तु उन परमाणुओं में ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी; इसलिये वह दशा हुई है। जीव के पुरुषार्थ के कारण कर्म की क्रमबद्ध अवस्था में भंग नहीं पड़ जाता; जीव अपनी दशा में पुरुषार्थ करताा है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्ध दशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है। परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है किन्तु आत्मा उसका कुछ नहीं करता।

प्रश्न — यदि कर्म उस परमाणु की क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैनों में तो कर्मसिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पड़े हैं, उस के सम्बन्ध में क्या समझा जाय ?

उत्तर — हे भाई ! यह सभी शास्त्र आत्मा को ही बतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है, उसका आत्मा के परिणाम के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस-किस प्रकार के होते हैं, यह समझाने के लिए उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए कर्म का वर्णन किया है किन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा का कर्ता-कर्म सम्बन्ध किंचित्मात्र भी नहीं है।

प्रश्न — बंध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निद्धत्त और

निकाचित, ऐसे दश प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यों कहे हैं ?

उत्तर — अहो, इसमें भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहचान कराई गई है। कर्म के जो दश प्रकार बताये हैं, वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिये ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दश प्रकार से हो सकता है, यह बताने के लिए कर्म के भेद करके समझाया है। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यता के अनुसार स्वयं परिणमन करता है। इसमें तो दोनों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराया है, परन्तु यह बात नहीं की है कि कर्म, आत्मा का कुछ करते हैं।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है, उसमें जो अनादि-अनन्त पर्याय होती है, वही समय-समय पर क्रमबद्ध होती है।

प्रश्न — आपने तो यह कहा है न कि कर्म की उदीरणा होती है ?

उत्तर — उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में होनेवाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो; परमाणु की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की होनी है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया है, यह बताने के लिये उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म में उदीरणा हुई है। वास्तव में कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया, परन्तु जीव ने अपनी पर्याय में उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है-उसका ज्ञान कराने के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं, वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्मों को खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया, किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये उपचार से ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्म परमाणुओं को अल्प काल में ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जो कर्मों की अवस्था स्वयं खिरनेरूप थी, वे कर्म खिर गई। परमाणु की अवस्था के क्रम में भंग नहीं पड़ता। बहुत काल के कर्म क्षण भर में टाल दिये' - इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि जीव ने बहुत-सा पुरुषार्थ अपनी पर्याय में किया है।

छहों द्रव्य परिणमनस्वभावी हैं और वे अपने आप क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं। छहों द्रव्य पर की सहायता के बिना स्वयं परिणमित होते हैं, यह श्रद्धा करने में ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव की एक भी पर्याय नहीं होती। मात्र पुरुषार्थ की उन्मुखता अपनी ओर

करने की जगह जीव, पर की ओर करता है, यही अज्ञान है। यदि स्वभाव की रुचि करे, तो स्वभाव की ओर ढले, अर्थात् पर्याय क्रमशः शुद्ध होती जाय।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है; इसलिए इस बात को खूब विश्लेषण करके समझना चाहिए, उसे जरा भी ढ़कना नहीं चाहिये। उसे निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिए। परम सत् को ढँकना नहीं चाहिये, किन्तु ऊहापोह करके बराबर विश्लेषणपूर्वक निश्चय करना चाहिये। सत्य में किसी की लज्जा नहीं होती, यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में जो जाना है, उस प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी क्रमबद्धरूप में मेरे स्वद्रव्य में से ही प्रगट होगी। ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान बढ़कर स्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञाताशक्ति प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारीपर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है ? ऐसे स्वभाव में निःशंक है, वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी संदेह का वेदन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अहो ! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो ! वह स्वभाव के आश्रय से ही प्रारंभ करता है और स्वभाव में ही लाकर पूर्ण करता है। उसने जहाँ से प्रारंभ किया था, वहीं का वहीं ला रखा है आत्मा में स्वाश्रय से साधकदशा प्रारंभ की है और पूर्णता भी स्वाश्रय से आत्मा में ही होती है। केवलज्ञान संपूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारंभ किया है और न बाह्य में कहीं रुकनेवाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकलकर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नहीं है, किन्तु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहाँ मुख्यतया जीव की बात समझाई है, आत्मा की अवस्था आत्मा में ही क्रमबद्ध प्रगट होती है, वह निश्चय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य है; यह निश्चय करने पर, पहले अनन्त पदार्थों को अच्छा-बुरा मानकर जो राग-द्वेष होता था, वह सब दूर हो गया; पर निमित्त का स्वामित्व मानकर जो वीर्य पर में रुक जाता था, वह अब अपने आत्मस्वभाव को देखने में लग गया है; राग, निमित्त वगैरह की ओर की दृष्टि गई और स्वभाव में दृष्टि हो गई। स्वभावदृष्टि में अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है, तत्संबंधी यह बात है। स्वभावदृष्टि को समझे बिना व्रत, तप, भक्ति, दान

और पठन, पाठन यह सब बिना इकाई के शून्य के समान व्यर्थ हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के यह कुल सच्चे नहीं होते।

हे जीव! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवत्ता वस्तु में से ही प्रगट होती है। यदि ऐसे अवसर पर यथार्थ वस्तु को दृष्टि में न लें तो वस्तु के स्वरूप को जाने बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तु में संसार नहीं है, वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्षपर्याय की तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है। भगवन्! यह तेरे स्वभाव की बात है, एक बार हाँ तो कह! तेरे स्वभाव की स्वीकृति में से स्वभावदशा की अस्ति आयेगी; स्वभाव-सामर्थ्य का इन्कार मत कर! सब प्रकार से अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य में दृष्टि करके देख, जिस द्रव्य में से सादि-अनंत मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के बल से मोक्षदशा प्रगट हो जाता है। ॥३२१-३२२॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन छहों द्रव्यों में क्रमबद्धपर्याय है। यदि जीव अपनी क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे तो उसकी क्रमबद्ध मोक्षपर्याय हुये बिना न रहे; क्योंकि क्रमबद्ध की श्रद्धा का भार निज में आता है। जिस वस्तु में से अपनी अवस्था आती है, उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होता है। परद्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा - ऐसी दृष्टि के टूट जाने से और निजद्रव्य में दृष्टि रखने से राग की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था होती है ऐसी दृष्टि होने पर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोड़कर, संपूर्ण स्थिर होकर अल्पकाल में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसमें अनन्त पुरुषार्थ समागत है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्धपर्याय प्रयत्न के बिना नहीं होती। मोक्षमार्ग के प्रारंभ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो सो हो, इस प्रकार क्रमबद्धता का निश्चय वास्तव में तब कहलाता है, जब बाह्य वस्तु से उदास होकर, सब का ज्ञातामात्र रह जाय; तभी उसके क्रमबद्ध का सच्च्या निर्णय होता है। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख-दुःख होता है, उसे क्रमबद्धपर्याय की किंचित्मात्र भी प्रतीति नहीं है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्त गुण हैं, वे गुण पलटकर समय-समय पर एक के बाद एक अवस्था होती है, वह उल्टी-सीधी नहीं होती और न एक ही साथ दो अवस्थायें एकत्रित होती हैं;

कोई भी समय अवस्था के बिना-खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्षदशा भी मेरे गुण में से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी परवस्तु पर लक्ष नहीं रहेगा, और इसलिये किसी परवस्तु पर राग-द्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त परपदार्थों का लक्ष छोड़कर आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा आकुलता का विकल्प नहीं रहता कि 'मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कब प्रगट होगी ?' क्योंकि तीन काल की क्रमबद्धपर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आ गया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है, वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर, द्रव्य की अवस्था चाहे जिससे हो, किन्तु उसमें यह विचार (राग-द्वेष) कदापि नहीं होता कि—'यह ऐसा क्यों हुआ ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता।' क्रमबद्धपर्याय का निश्चय करनेवाले के यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्य की इस समय ऐसी ही क्रमबद्ध अवस्था होनी थी, वैसा ही हुआ है; तब फिर वह उस में राग या द्वेष क्यों करेगा ? मात्र जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है, उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, बस, वह ज्ञाता हो गया; ज्ञातारूप से रहकर वह अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह है क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का फल ।

क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय, उसी ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतराग-स्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना मोक्ष की ओर की क्रमबद्धपर्याय नहीं होती। जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता, वह अपने पुरुषार्थ को प्रारम्भ नहीं करता और इसलिये पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नहीं होता। पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाले की क्रमबद्धपर्याय निर्मल नहीं होती, किन्तु विकारी होगी। अर्थात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाला अनन्त संसारी है और पुरुषार्थ को स्वीकार करनेवाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो-वह यही है।

प्रश्न — यदि क्रमबद्धपर्याय जब जो होनी हो, वही हो तो फिर विकारी भाव भी जब होने हों, तभी होंगे न ?

उत्तर — अरे भाई ! तेरा प्रश्न विपरीत को लेकर उपस्थित हुआ है। जिसने अपने ज्ञान में यह प्रतीति कर ली है कि 'विकारी पर्याय जब होनी थी, तब हुई' तो उसकी रुचि कहाँ जाकर

अटकी है? विकार को जाननेवाले को ज्ञान की रुचि है या विकार की रुचि है? विकार को यथार्थतया जानने का काम करनेवाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य, विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अटक रहा है; स्वभाव के ज्ञान में अटका हुआ वीर्य, विकार की या पर की रुचि में कदापि नहीं अटकता, किन्तु स्वभाव के बल से विकार का अल्प काल में ही क्षय होता है। जिसे विकार की रुचि है, उसकी दृष्टि का बल (वीर्य का भार) विकार की ओर जाता है। 'जो होनी होती है, वही पर्याय क्रमबद्ध होती है' इस प्रकार किसका वीर्य स्वीकार करता है, यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में, पर में सुखबुद्धि नहीं होती किन्तु स्वभाव में ही संतोष होता है।

जैसे किसी बड़े आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल निमंत्रण देकर विविध प्रकार के मिष्ठान्न जिमाये,—इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर में आचूल निमंत्रण है; 'मुक्ति के मंडप में' सबको आमंत्रण है, समस्त विश्व को आमंत्रण है। मुक्तिमंडप के हर्ष-भोज में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि में परोसे गये न्यायों में से उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं, जिन्हें पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान, जो इस बात को स्वीकार करता है, उसकी मुक्ति निश्चित है। लो! यह मुक्तिमंडप और इसका हर्ष-भोज, इसे स्वीकार करो! अब, गाथा ३२१-३२२ में जो वस्तुस्वरूप बताया है, उसकी विशेष दृढ़ता के लिए ३२३ वीं गाथा कहते हैं। जो जीव पहले गाथा ३२१-३२२ में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है, वह मिथ्यादृष्टि है —

एवं जो णिच्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो शंकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥३२३॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तथा उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है-श्रद्धा करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता, शंका-संदेह करता है, वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है-प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर, जिन द्रव्यों और उनकी अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायों को आगम में कहा है, वे सब जिसके ज्ञान में और प्रतीति में जम गये हैं, वे '**सद्दिट्ठी सुद्धो**' अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं। मूल पाठ में '**सो सत्दृष्टिः शुद्धाः**' यह कहकर भार दिया है।

पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही है और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि '**जो शंकादि सो हु कुद्दिट्ठी**' अर्थात् जो उसमें शंका करता है, वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है-सर्वज्ञ का शत्रु है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्यदेव ने इस ३२१-३२२-३२३ वीं गाथाओं में गूढ़ रहस्य संकलित करके रख दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव बराबर जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है। सर्वज्ञदेव और सम्यग्दृष्टि में इतना ही अन्तर है कि सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्यायों को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्यायों को आगम प्रमाण से प्रतीति में लेता है अर्थात् परोक्षज्ञान से निश्चय करता है। सर्वज्ञ के वर्तमान राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सम्यग्दृष्टि के भी अभिप्राय में राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सर्वज्ञ भगवान, केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते हैं; सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नहीं जानता, तथापि वे श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करते हैं। उसका ज्ञान भी नि:शंक है। पर्याय, प्रत्येक वस्तु का धर्म है, वस्तु स्वतंत्रतया अपनी पर्यायरूप होती है। जिस समय जो पर्याय होती है, उसको मात्र जानना ही ज्ञान का कर्तव्य है। जानने के बाद 'यह पर्याय यों कैसे हुई ?' ऐसी शंका करनेवाले को वस्तु के स्वतंत्र 'पर्यायधर्म' की और ज्ञान के कार्य की खबर नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, जानने में यों कैसे हुआ ? इस प्रकार की शंका को स्थान ही कहाँ है ? 'ऐसा कैसे' ऐसी शंका करना ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है, किन्तु 'जो पर्याय होती है, वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है,' इसलिए जैसी होती है, उसी प्रकार उसे जानने का ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानी सबको नि:शंकरूप से जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के बल से वह केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोड़कर पूर्ण केवलज्ञान को अल्प काल में ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव, वस्तु की क्रमबद्ध स्वतंत्र पर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ, और पर मुझे राग-द्वेष कराता है', उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है, उसमें मैं परिवर्तन कर दूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान को और उनकी श्रीमुख वाणी के न्यायों को नहीं मानता, वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव, तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्यायें प्रगटरूप में उसी से स्वयं होती हैं, तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है,

(सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है), वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एवं प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है, उस ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इसमें तो नियत आ गया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है, वह मानों द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष से निज का नियत मानता है, वह एकान्तवादी, बातूनी है और अपने स्वभाव के लक्ष से स्वयं स्वभाव में मिलकर-स्वभाव की एकता करके, राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है, उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है, वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में नियत भी आ जाता है। जहाँ पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ मोक्ष-पर्याय का नियत भी नहीं है।

अहो! महा सन्त-मुनिश्वरों ने जंगल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तंभ हैं, आचार्यदेवों ने पवित्र धर्म को सहारा देकर उसे स्थिर रखा है। एक-एक आचार्यदेव ने अद्‌भुत कार्य किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परीषहों को जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अनेकानेक जीवों पर अपार उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो, पद-पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य की घोषणा है, इसके संस्कार अपूर्व वस्तु हैं, और इसे समझना मानों मुक्ति को वरण करने का श्रीफल है—जो इसे समझ लेता है, उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्न — जो होना होता है, सो होता है, ऐसा मानने में अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया?

उत्तर— जो होना होता है, वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होता है, यह जानकर, पर से हटकर जो अपनी ओर उन्मुख हुआ, उसने स्वभाव के लक्ष से माना है; उसकी मान्यता में अनेकान्त स्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध आती है, मेरी पर्याय पर में से नहीं आती'—इस प्रकार अनेकान्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से क्रमबद्ध जो होनी होती है, सो होती है, मैं उसकी पर्याय को नहीं करता'—इस प्रकार अनेकान्त है। 'जो होना होता है, वही होता है'—यह जानकर अपने द्रव्य के उन्मुख होना चाहिए परन्तु 'जो होना होता है,

सो होता है' इस प्रकार जो मात्र पर से मानता है किन्तु अपने द्रव्य की पर्याय कहाँ से आती है, इसकी प्रतीति नहीं करता अर्थात् परलक्ष को छोड़कर स्वलक्ष नहीं करता, वह एकान्तवादी है।

प्रश्न — भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पाँच समवाय कहे हैं और आप तो मात्र पुरुषार्थ-पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर — जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है, वहाँ स्वयं अन्य चारों समवाय अवश्य होते हैं। पाँच समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१— मैं पर का कुछ करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है, इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोड़ना, वह **पुरुषार्थ** है।

२— स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह दशा स्वभाव में थी, सो वही प्रगट हुई है, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है, वह **स्वभाव** है।

३— स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्धपर्याय उस समय प्रगट होनी थी, वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई, वह **नियति** है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी, वही पर्याय प्रगट हुई है। बस, स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई, वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है, वही प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

४— स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई, वही उस वस्तु का **स्वकाल** है। पहले पर की ओर झुकता था, उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ, सो यही **स्वकाल** है।

५— जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुये, तब **निमित्तरूप कर्म** उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह **कर्म** है।

इसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पाँचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त से सम्बद्ध है। यदि पाँचवाँ समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—परोन्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर झुकने पर प्रथम के चारों का अस्तिरूप में और कर्म का नास्तिरूप में-इस प्रकार आत्मा में पाँचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् निज के पुरुषार्थ में पाँचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं। प्रथम चार अस्ति से और पाँचवाँ नास्ति से अपने में है।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया, तब विकारीभाव के लिए कर्म निमित्त कहलाया

और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया, तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जीव निजलक्ष करके चार समवायरूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष करके परिणमित नहीं होता (अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता), तब कर्म की अवस्था को निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है, तब भले ही कर्म उदय में हो किन्तु जीव के उस समय के परिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं निज में एकमेक हुआ और कर्म की ओर नहीं गया, यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्वसन्मुखदशा में पाँचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है, तब उसके पाँचों ही समवाय एक ही समय में होते हैं, स्व की प्रतीति में पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न — जीव केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव को केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा?

उत्तर — अद्भुत है तुम्हारी शंका। तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नहीं है; इसलिये तेरी दृष्टि कर्म की ओर प्रलंबित हुई है। जो ऐसी शंका करता है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो?' वह मूर्ख है, इसी प्रकार 'मैं पुरुषार्थ करूँ और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो?' जो ऐसी शंका करता है, उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म की क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है, तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है। 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलंबित हुई है और ऐसी शंका करनेवाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नहीं? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और मैं जब अपनी केवलज्ञान दशा प्रगट करता हूँ, तब घातियाकर्म रहते ही नहीं, ऐसा नियम है। जिसे उपादान की श्रद्धा हो, उसे निमित्त की शंका नहीं होती। जो निमित्त की शंका में अटक गया है, उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। जो उपादान है, सो निश्चय है और जो निमित्त है, सो व्यवहार है।

निश्चयनय संपूर्ण द्रव्य को लक्ष में लेता है। संपूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कमी की स्वीकृति ही कहाँ है? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नहीं है। इसलिये क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में केवलज्ञान ही है।

केवलज्ञानी निश्चय से तो संपूर्ण आत्मज्ञ ही है, व्यवहार से सर्वज्ञ है। संपूर्ण आत्मज्ञ होने से सर्वज्ञ कहलाता है, आत्मज्ञता के बिना सर्वज्ञता हो नहीं सकती।

सर्वज्ञ तो सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है, इसलिये जो निम्न दशा में भी यह प्रतीति में लाता है कि 'सभी वस्तुओं की क्रमबद्धपर्याय है' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, वह आत्मज्ञ ही है, क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती। जो जीव, वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्धपर्यायों को नहीं मानता, वह सर्वज्ञता को नहीं मानता, और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं, वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात हैं, उसी प्रकार होती हैं—जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है, उसे क्रमबद्धपर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है; आत्मज्ञ जीव, सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है, दूसरी ओर जगत के सर्वद्रव्यों की पर्याय अपने-अपने भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अहो! इसमें एक-दूसरे का क्या कर सकता है? समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस! ऐसी प्रतीति करने पर ज्ञान अलग ही रह गया; सब में से राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया, यही केवलज्ञान है।

परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निजपर्याय से परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या? परवस्तु का और निज वस्तु का परिणमन तो बिल्कुल भिन्न ही है; इसलिये जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है, निमित्त कहीं जीव की राग-द्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाता; इसलिए निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है, सो तो ज्ञान करने के लिए है; ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव, निमित्त को जानता भी है, परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नहीं होता। ●

[गतांक से आगे]

पात्रता की पहली सीढ़ी

गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग

— लेखक : रामजीभाई माणेकचंद दोशी

महामिथ्यात्व कब दूर हो ?

जिसे आत्मस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान के द्वारा अनादिकालीन महा भूल को दूर करने का उपाय करना हो, उसे इसके लिये आत्मज्ञानी सत् पुरुष से शुद्धात्मा का सीधा स्वरूप सुनना चाहिये और उसका स्वयं अभ्यास करना चाहिये। ध्यान रहे कि मात्र सुनते रहने के अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता, किन्तु अपने स्वभाव के साथ मिलाकर स्वयं निर्णय करना चाहिये।

जीव स्वयं अनन्त बार तीर्थंकर भगवान के समवशरण में जाकर उनका उपदेश सुन आया है। किन्तु स्वाश्रय स्वभाव की श्रद्धा किये बिना उसे धर्म प्राप्त नहीं हुआ। ''आत्मा ज्ञानस्वरूप है, किन्तु वह पर का कुछ भी कर नहीं सकता; पुण्य से आत्मा का धर्म नहीं होता'' ऐसी निश्चय की सच्ची बात सुनकर उसे स्वीकार करने की जगह जीव इन्कार करता है कि 'यह बात अभी अपने लिये काम की नहीं है; कुछ पराश्रय चाहिये और पुण्य भी करना चाहिये; पुण्य के बिना अकेला आत्मा कैसे टिक सकता है ?' इस प्रकार अपनी पराश्रय की विपरीत मान्यता को दृढ़ करके सुना। सत् को सुनकर भी उसने उसे आत्मा में ग्रहण नहीं किया, इसलिये महामिथ्यात्व दूर नहीं हुआ।

प्रारंभ से ही आत्मा के स्वावलम्बी शुद्ध स्वरूप की समझ, उसकी श्रद्धा और उसका ज्ञान करने का जो मार्ग है, वह नहीं रुचा, किन्तु अनादि काल से पराश्रय रुचा है, इसलिये सत् को सुनते हुये कई जीवों को ऐसा लगता है कि अरे ! यदि आत्मा का ऐसा स्वरूप मानेंगे तो समाज व्यवस्था कैसे निभेगी ? जब कि समाज में रह रहे हैं, तब एक दूसरे का कुछ करना तो चाहिये न ? ऐसी पराश्रित मान्यता से संसार का पक्ष नहीं छोड़ा और आत्मा को नहीं पहिचाना।

सत्य को समझने की आवश्यकता

स्वाधीन सत्य को स्वीकार करने से जीव को कदापि हानि नहीं होती, और समाज को भी

सत्य तत्त्व को मानने से कदापि कोई हानि नहीं होगी। समाज अपनी अज्ञानता से ही दु:खी है, और वह दु:ख अपनी यथार्थ समझ से ही दूर हो सकता है, इसलिये यथार्थ समझ करनी चाहिये। जो यह मानता है कि सच्ची समझ से हानि होगी, वह सत्य का महान अनादर करता है। मिथ्यात्व का महापाप दूर करने के लिये सर्वप्रथम यथार्थ तत्त्व की सच्ची पहचान करने का अभ्यास करना आवश्यक है।

सर्वज्ञ वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु और उनके द्वारा कहे गये अनेकान्तमय सत् शास्त्रों का ठीक निर्णय करना चाहिये। स्वयं हिताहित का निर्णय करके, सत्य को समझने का जिज्ञासु होकर, ज्ञानियों से शुद्ध आत्मा की बात सुनकर विचार के द्वारा निर्णय करना चाहिये। यही मिथ्यात्व को दूर करने का उपाय है।

भगवान के उपदेश का सार

प्रश्न— भगवान के उपदेश में मुख्यतया क्या कथन होता है ?

उत्तर— भगवान स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करके पूर्ण दशा को प्राप्त हुये हैं, इसलिये उनके उपदेश में भी पुरुषार्थ द्वारा आत्मा की सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करने की बात मुख्यता से आती है।

भगवान के उपदेश में नव तत्त्वों का स्वरूप बताया जाता है। यदि कोई 'आत्मा शुद्ध है' इस प्रकार आत्मा-आत्मा ही कहा करे तो अज्ञानी जीव कुछ भी नहीं समझ सकेंगे; इसलिये यह समझाया जाता है कि आत्मा का शुद्ध स्वभाव क्या है, उसकी विकारी या अविकारी दशा क्या है, आत्मा के सुख का कारण क्या है, दुख का कारण क्या है, संसार मार्ग क्या है, नव तत्त्व क्या हैं, देव, गुरु, शास्त्र, क्या हैं, इत्यादि। किन्तु उसमें आत्मा का स्वरूप समझने की मुख्यता होती है।

—नव तत्त्व—

आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ही है, किन्तु अवस्था में विकारी और अविकारी भेद हैं। पुण्य-पाप विकार है और उसका फल आस्रव तथा बंध है। यह चारों (पुण्य, पाप, आस्रव, बंध) जीव के दु:ख का कारण हैं, इसलिये वे त्याज्य है। आत्मस्वरूप को यथार्थ समझकर पुण्य-पाप को दूर करके स्थिरता करना, सो संवर, निर्जरा, मोक्ष है। यह तीनों आत्मा के सुख का कारण हैं, इसलिये वे प्रगट करने योग्य हैं। जीव स्वयं ज्ञानमय है, परन्तु ज्ञानरहित अजीव वस्तु के लक्ष से भूल करता

है, इसलिये जीव-अजीव की भिन्नता समझाई जाती है। इस प्रकार नव तत्त्व का स्वरूप समझना चाहिये।

द्रव्य और पर्याय

आत्मा अपनी शक्ति से त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु उसकी वर्तमान पर्याय बदलती रहती है। अर्थात् शक्ति स्वभाव से स्थिर रहकर भी अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। अवस्था में स्वयं अपने स्वरूप को भूल कर जीव मिथ्यात्वरूप महा भूल को उत्पन्न करता है; वह भूल अवस्था में है; और क्योंकि अवस्था बदलती है, इसलिये वह भूल सच्ची समझ के द्वारा स्वयं दूर कर सकता है। अवस्था (पर्याय) में भूल करनेवाला जीव स्वयं है, इसलिये वह स्वयं ही उस भूल को दूर कर सकता है।

यथार्थ समझ

जीव अपने स्वरूप को भूल रहा है, इसलिये वह अजीव को अपना मानता है, और इसीलिये पुण्य, पाप, आस्रव, बंध होता है। यथार्थ समझ के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने पर उसे अपना स्वरूप अजीव से और विकार से भिन्न लक्ष में आता है, और इस से पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, क्रमशः दूर होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष होता है। इसलिये सर्व प्रथम स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के मिथ्यात्व को यथार्थ समझ के द्वारा दूर करके, आत्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन के द्वारा, अपने स्वरूप के महाभ्रम का अभाव करना चाहिये।

क्रिया और ग्रहण-त्याग

यथार्थ समझ के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते ही संवर-निर्जरारूप धर्म प्रारंभ हो जाता है और अनन्त संसार के मूलरूप मिथ्यात्व का ध्वंस होता है। अनन्त पर वस्तुओं से अपने को हानि-लाभ होता है, ऐसी मान्यता के दूर होने पर अनन्त राग-द्वेष की असत् क्रिया का त्याग और ज्ञान की सत् क्रिया का ग्रहण होता है। यही सर्व प्रथम धर्म की सत् क्रिया है। इसे समझे बिना धर्म की क्रिया किंचित्मात्र भी नहीं हो सकती। देह तो जड़ है; उसकी क्रिया के साथ धर्म का कोई संबंध नहीं है।

आत्मा का स्वभाव कैसा है, उसकी विकारी तथा अविकारी अवस्था किस प्रकार की होती

है, और विकारी अवस्था के समय कैसे निमित्त का संयोग होता है, एवं अविकारी अवस्था के समय कैसे निमित्त स्वयं छूट जाते हैं–यह सब जानना चाहिये इसके लिये स्व–पर के भेदज्ञान पूर्वक नव तत्त्व का ज्ञान होना चाहिये।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान

प्रश्न—आत्मा को सम्यग्ज्ञान किस उम्र में और किस दशा में प्रगट हो सकता है ?

उत्तर—गृहस्थदशा में आठ वर्ष की उम्र में भी सम्यग्ज्ञान हो सकता है। गृहस्थदशा में आत्मप्रतीति की जा सकती है। पहले तो निःशंक सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये; सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है। और सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान होने पर स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा विकार को दूर करके जीव अविकारीदशा को प्रगट किये बिना नहीं रहता। अल्प पुरुषार्थ के कारण कदाचित् विकार के दूर होने में देर लगे, तथापि उसके दर्शन–ज्ञान में मिथ्यात्व नहीं रहता।

निश्चय और व्यवहार

आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर जीव को ऐसा निश्चय होता है कि मेरा स्वभाव शुद्ध निर्दोष है, तथापि मेरी अवस्था में जो विकार और अशुद्धता है, वह मेरा दोष है, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है, इसलिये वह त्याज्य है–हेय है। जब तक मेरा लक्ष किसी अन्य वस्तु में या विकार में रहेगा, तब तक अविकारीदशा नहीं होगी; किन्तु जब उस संयोग और विकार पर से अपने लक्ष को हटाकर मैं अपने शुद्ध अविकारी ध्रुव स्वरूप में लक्ष को स्थिर करूँगा, तब विकार दूर होकर अविकारी दशा प्रगट होगी।

मेरा ज्ञानस्वरूप नित्य है और रागादि अनित्य है; एकरूप ज्ञानस्वरूप के आश्रय में रहने पर रागादि दूर हो जाते हैं। अवस्था–पर्याय तो क्षणिक है, और वह प्रतिक्षण बदलती रहती है, इसलिये उसके आश्रय से ज्ञान स्थिर नहीं रहता, किन्तु उस में वृत्ति उद्भूत होती है, इसलिये अवस्था का लक्ष छोड़ना चाहिये और त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप पर लक्ष स्थापित करना चाहिये। यदि प्रकारान्तर से कहा जाय तो निश्चय स्वभाव पर लक्ष करके व्यवहार का लक्ष छोड़ने से शुद्धता प्रगट होती है।

सम्यग्दर्शन का फल

चारित्र की शुद्धता एक साथ संपूर्ण प्रगट नहीं हो जाती किन्तु क्रमशः प्रगट होती है। जब तक अपूर्ण शुद्धदशा रहती है, तब तक साधकदशा कहलाती है। यदि कोई कहे कि शुद्धता कितनी

प्रगट होती है ? तो कहते हैं कि—पहले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से जो आत्मस्वभाव प्रतीति में आया है, उस स्वभाव की महिमा के द्वारा वह जितने बलपूर्वक स्वद्रव्य में एकाग्रता करता है, उतनी ही शुद्धता प्रगट होती है। शुद्धता की प्रथम सीढ़ी शुद्धात्मा की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बाद पुरुषार्थ के द्वारा क्रमशः स्थिरता को बढ़ाकर अन्त में पूर्ण स्थिरता के द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट करके मुक्त हो जाता है। और सिद्धदशा में अक्षय अनन्त आत्मसुख का अनुभव करता है। मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही यह फल है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

प्रश्न—द्रव्य त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है, उसका कभी नाश नहीं होता और कभी भी दूसरे द्रव्य में नहीं मिल जाता, इसका क्या आधार है ? यह क्यों कर विश्वास किया जाय ? हम देखते हैं कि दूध इत्यादि अनेक वस्तुओं का नाश हो जाता है; अथवा दूध (वस्तु) मिटकर दही (वस्तु) बन जाता है, तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता ?

उत्तर—वस्तुस्वरूप का ऐसा सिद्धान्त है कि जो वस्तु है, उसका कभी भी नाश नहीं होता, और जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, तथा जो वस्तु है, उस में रूपान्तर होता रहता है। अर्थात् स्थिर रहकर बदलना (Parmanency with a change) वस्तु का स्वरूप है। शास्त्रीय भाषा में इस नियम को "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" के रूप में कहा गया है। उत्पाद-व्यय का अर्थ है अवस्था (पर्याय) का रूपान्तर और ध्रौव्य का अर्थ है वस्तु का स्थिर रहना-यह द्रव्य का स्वभाव है।

अस्ति-नास्ति

द्रव्य और पर्याय के स्वरूप में यह अन्तर है कि द्रव्य त्रिकाल स्थिर है, वह बदलता नहीं है, किन्तु पर्याय क्षणिक है, वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। पर्याय के बदलने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता। द्रव्य अपने स्वरूप में त्रिकाल स्थिर है, इसलिये वह दूसरे में कभी नहीं मिटता। इसे अनेकांत स्वरूप कहा जाता है; अर्थात् वस्तु अपने स्वरूप से है और दूसरे स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। जैसे लोहा लोहे के स्वरूप की अपेक्षा से है किन्तु वह लकड़ी के स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। जीव, जीवस्वरूप से है, किन्तु वह जड़स्वरूप से नहीं है। ऐसा स्वभाव है, इसलिये कोई वस्तु अन्य वस्तु में नहीं मिल जाती, किन्तु सभी अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही रहती हैं।

नित्य-अनित्य

जीव अपने वस्तुस्वरूप से स्थिर रहकर पर्याय की अपेक्षा से बदलता रहता है, किन्तु जीव जीवरूप में ही बदलता है। जीव की अवस्था बदलती है, इसीलिये संसारदशा का नाश करके सिद्धदशा हो सकती है और अज्ञानदशा का नाश करके ज्ञानदशा हो सकती है; और जीव नित्य है, इसलिये संसारदशा का नाश हो जाने पर भी वह मोक्षदशारूप में स्थिर बना रहता है। इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य समझना चाहिये।

परमाणु में भी उसकी अवस्था बदलती रहती है, किन्तु किसी वस्तु का नाश नहीं होता। दूध इत्यादि का नाश होता हुआ दिखता है, किन्तु वास्तव में वह वस्तु का नाश नहीं है। दूध कहीं मूल वस्तु नहीं है, किन्तु वह तो बहुत से परमाणुओं की स्कंधरूप अवस्था है; और वह अवस्था बदलकर अन्य दही इत्यादि अवस्था हो जाती है, किन्तु उसमें परमाणु-वस्तु तो स्थिर बनी ही रहती है। और फिर दूध बदलकर दही हो जाता है, इसलिये वस्तु अन्यरूप नहीं हो जाती। परमाणु वस्तु है, वह तो सभी अवस्थाओं में परमाणुरूप ही रहती है। वस्तु कभी भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है—

क्यारे कोई वस्तु नो केवळ होय न नाश
चेतन पामे नाश तो केमां भळे तपास ? *(आत्मसिद्धि, ७०)*
कभी किसी भी वस्तु का केवल होय न नाश,
चेतन पाभे नाश तो किस में मिले तपास ? *(आत्मसिद्धि, ७०)*

जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु का कभी सर्वथा नाश नहीं होता। यदि ज्ञानस्वरूप चेतन वस्तु नाश को प्राप्त हो तो वह किसमें जाकर मिलेगी ? चेतन का नाश होकर क्या वह जड़ में घुस जाता है ? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि चेतन सदा चेतनरूप परिणमित होता है, और जड़ सदा जड़ परिणमित होता है। किन्तु वस्तु का कभी नाश नहीं होता।

पर्याय के बदलने पर, वस्तु का नाश मान लेना अज्ञान है; और यह मानना भी अज्ञान है कि वस्तु की पर्याय को दूसरा बदलवाता है। वस्तु कभी भी बिना पर्याय के नहीं होती, और पर्याय कभी भी वस्तु के बिना नहीं होती।

जो अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं, वे नित्य स्थिर रहनेवाली वस्तु के बिना नहीं हो सकती। यदि नित्य स्थिर रहनेवाला पदार्थ न हो तो अवस्था कहाँ से आए ? दूध, दही, मक्खन, घी

इत्यादि सब अवस्थायें हैं, उसमें नित्य स्थिर रहनेवाली मूल वस्तु परमाणु है। दूध इत्यादि पर्याय है, इसलिये वह बदल जाती है, किन्तु उस किसी भी अवस्था में परमाणु अपने परमाणुपन को नहीं छोड़ता, क्योंकि वह वस्तु है-द्रव्य है।

सामान्य-विशेष

द्रव्य का अर्थ है वस्तु और वस्तु की वर्तमान अवस्था को पर्याय कहते हैं। द्रव्य अंशी (सम्पूर्ण वस्तु) है और पर्याय उसका एक अंश है। अंशी को सामान्य कहते हैं और अंश को विशेष कहते हैं। इस सामान्य-विशेष को मिलाकर वस्तु का अस्तित्व है। सामान्य-विशेष के बिना कोई सत्पदार्थ नहीं होता। सामान्य ध्रुव है और विशेष उत्पाद-व्यय है—''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्''।

जो वस्तु एक समय में है, वह वस्तु त्रिकाल है, क्योंकि वस्तु का नाश नहीं होता किन्तु रूपान्तर होता है। वस्तु अपनी शक्ति से (सत्ता से-अस्तित्व से) स्थिर रहती है, उसे कोई परवस्तु सहायक नहीं होती। यदि इसी नियम को सरल भाषा में कहा जाये तो—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता।

अन्त में

प्रश्न—यह सब किस लिए समझना चाहिए?

उत्तर—अनादि काल से चले आये हुए अनन्त दुःख के कारण एवं महा पापरूप मिथ्यात्व को दूर करने के लिए यह सब समझना आवश्यक है। यह समझ लेने पर आत्मस्वरूप की यथार्थ पहचान हो जाती है और सम्यक्दर्शन प्रगट हो जाता है तथा सच्चा सुख प्रगट हो जाता है, इसलिए इसे ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस अंक के लिये खर्च मिल जाने से प्रगट किया जाता है, किसकी ओर से खर्च मिला है, वह आगामी अंक में प्रगट होगा। .....रवाणी

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१५-७-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड